‘रंगभूमि’ में प्रादेशिकता और वैश्विकता का द्वंद्व

प्रेम सिंह

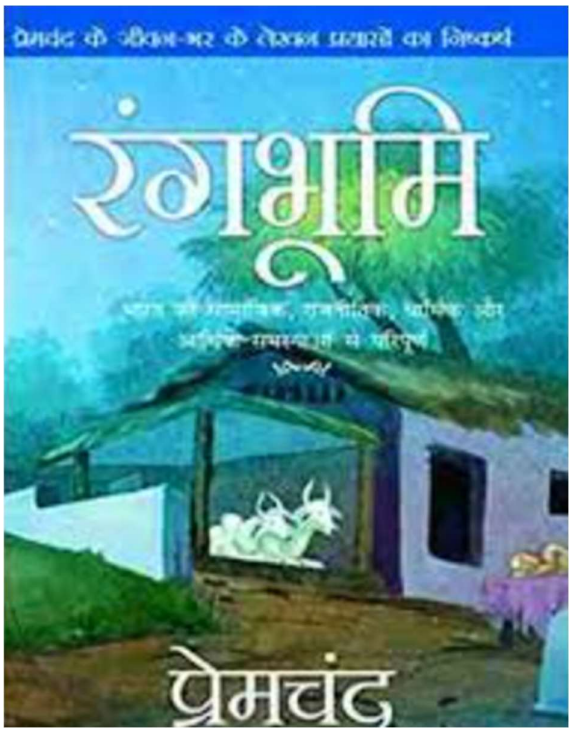

(यह लेख साहित्य अकादमी द्वारा 2005 में प्रेमचंद पर आयोजित अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठी में पढ़ा गया था। बाद में ‘पक्षधर’ पत्रिका के जनवरी-जून 2018 अंक 24 में प्रकाशित हुआ था।)

“बस-बस, अब मुझे क्यों मारते हो? तुम जीते, मैं हारा। यह बाजी तुम्हारे हाथ रही, मुझसे खेलते नहीं बना। तुम मंजे हुए खिलाड़ी हो दम नहीं उखड़ता, खिलाड़ियों को मिला कर खेलते हो और तुम्हारा उत्साह भी खूब है। हमारा दम उखड़ जाता है, हाँफने लगते हैं और खिलाड़ियों को मिला कर नहीं खेलते, आपस में झगड़ते हैं, गाली-गलौज, मारपीट करते हैं, कोई किसी की नहीं मानता। तुम खेलने में निपुण हो, हम अनाड़ी हैं। बस, इतना ही फरक है। तालियाँ क्यों बजाते हो, यह तो जीतने वालों का धरम नहीं? तुम्हारा धरम तो है हमारी पीठ ठोकना। हम हारे तो क्या, मैदान से भागे तो नहीं, धाँधली तो नहीं की। फिर खेलेंगे, जरा दम ले लेने दो, हार-हार कर तुम्हीं से खेलना सीखेंगे और एक न एक दिन हमारी जीत होगी, जरूर होगी।” (‘रंगभूमि’)

प्रत्येक भाषा के महान साहित्य की एक प्रमुख विशेषता यह मानी जाती है कि उसकी सार्थकता और प्रासंगिकता देशाकालातीत होती है: उस समाज और भाषा के लिए भी, जिसकी साहित्यिक परम्परा का वह अंग होता है, साथ ही दुनिया के अन्य समाजों और भाषाओं के पाठकों के लिए भी। इसके साथ यह भी माना जाता है कि साहित्य की यह खूबी तभी चरितार्थ होती है जब वह अपने युगीन यथार्थ में गहराई से स्थित होता है। यानी स्थानीय युगीन यथार्थ की आधार-भूमि पर स्थित साहित्य ही देश-कालजयी होता है।

देशकाल-बद्धता साहित्य की प्रादेशिकता कहलाती है। प्रादेशिकता की अवधारणा के लिए देशीयता, स्थानीयता, (भारतीय साहित्य के सन्दर्भ में) भारतीयता आदि पद प्रयुक्त किए जाते हैं। हालाँकि, भारत जैसे बहुभाषी देश में अलग-अलग भाषाओं में रचित साहित्य के साथ भी प्रादेशिकता का अर्थ जुड़ा हुआ है। प्रादेशिक विविधताओं अथवा विविध प्रादेशिकताओं में एकसूत्रता निहित मानी जाती है। इस एकसूत्रता से भारतीयता का स्वरूप निर्मित होता है। यानी भारतीयता विविध प्रादेशिकताओं का समावेशी विन्यास है। यहाँ हम इस अर्थ में, अर्थात् भारतीयता के अंतर्गत प्रेमचंद के साहित्य में प्रादेशिकता का विवेचन नहीं कर रहे हैं।

देशकाल में निबद्धता के बावजूद उसके परे जाने की खूबी को साहित्य की वैश्विकता कहा जाता है। वैश्विकता की अवधारणा के लिए सार्वदेशिकता, सार्वभौमिकता, सर्वमानवता आदि पद भी प्रचलित हैं। विश्व के हर बड़े साहित्यकार की तरह प्रेमचंद के साहित्य में भी प्रादेशिकता और वैश्विकता के गुण एक साथ विद्यमान हैं। उन्होंने अपने साहित्य में सम्पूर्ण संलग्नता के साथ भारत 'स्फेसिफिक' स्थितियों और अनुभवों का चित्रण किया है। उन स्थितियों और अनुभवों से ऐसे अनेक मानव-मूल्यों की सृष्टि होती है जो पूरे विश्व की मानवता की थाती हैं। साथ ही उनका साहित्य अनेकानेक ऐसी सूक्तियों का विश्वकोश है जो हर स्थान और काल के मनुष्य के लिए मौजूँ ठहरती है। प्रेमचंद ने उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र कहा है। उनका कथा-साहित्य सम्पूर्णतः मानव-चरित्र की महागाथा कहा जा सकता है। उनकी चरित्र-सृष्टि भी हर देश और काल के किसी समाज के पाठक की सौंदर्याभिरुचि को तृप्त करने की क्षमता रखती है। यानी उनकी चरित्र-सृष्टि में भारतीय विशिष्टताओं के साथ मनुष्य-मात्र की सामान्य प्रकृति का भी चित्रण मिलता है।

'प्रेमचंद की भारतीयता' पर विचार करते हुए उनके जीवनी लेखक अमृतराय ने लिखा है: ''हम प्रेमचंद की 'भारतीयता' की पड़ताल शून्य में नहीं बल्कि उनकी रचनाओं के संदर्भ में करेंगे, जीवन के सुंदर मूल्यों की उसकी खोज के संदर्भ में, क्योंकि समस्त श्रेष्ठ साहित्य का यही सारतत्व है। हमारी सांस्कृतिक परम्परा में इसको सूत्र रूप में सत्य, शिव और सुंदर की या फिर सत्, चित्, और आनंद की संज्ञा दी गयी है लेकिन मूलतः सारे संसार में मूल्यों की यह खोज एक ही है। होमर, व्यास, वाल्मीकि, दांते, गेटे, शेक्सपीयर, कबीर, सूर, तुलसी, सर्वांतीज, बाल्जाक, ह्यूगो, बायरन, शेली, डिकेंस, टॉलस्टॉय, दोस्तोवेस्की, चेखोव, गोर्की, नेक्सो, लू शुन, ह्विटमैन, स्टाइनबेक, रोमाँ रोलाँ, रवीन्द्रनाथ, शरत् चट्टोपाध्याय, प्रेमचंद या दूसरे महान लेखक जिन्हें आप प्यार से याद करते हों, जिन्होंने आपके मन को गहरे पैठ कर छुआ हो, उन सभी मानवतावादी साहित्यकारों की परम्परा समान रूप से उन्हीं महत् जीवन-मूल्यों की, सामाजिक आचरण के सभ्यतर मानकों की, सत्य और न्याय की खोज करती मिलेगी। बात करने का उनका ढंग अलग हो, अपने विशिष्ट परिवेश के आग्रहानुसार कहीं किसी ने एक बात पर और किसी ने किसी दूसरी बात पर विशेष बल दिया हो, पर उनकी सबकी नैतिक और सामाजिक चिंता और सरोकार उन्हीं जीवन-मूल्यों पर केंद्रित दिखाई देगी।'' ('प्रेमचन्द की प्रासंगिकता', पृ. 94-95) इस तरह प्रत्येक साहित्यकार की प्रादेशिकता अनिवार्यतः वैश्विकता से जुड़ी होती है, और प्रेमचंद के साहित्य में भी यह खूबी विद्यमान है।

साहित्य में प्रादेशिकता और वैश्विकता के उपर्युक्त सामान्य अर्थ के अलावा औपनिवेशिक गुलामी में रहे देशों के साहित्य के संदर्भ में एक विशिष्ट अर्थ भी है। देशों पर औपनिवेशिक वर्चस्व कायम करने का प्रमुख तर्क यह दिया गया कि उपनिवेशवादी विचारधारा/व्यवस्था वैश्विक है; उसका दुनिया के हर देश और क्षेत्र में पहुँचना और काबिज होना आधुनिकता तथा प्रगति के लिए अनिवार्य ऐतिहासिक सत्य है। सभी देशों और समाजों की अपनी विशिष्ट पहचान, यानी प्रादेशिकता को इस वैश्विकता के सामने घुटने टेकने चाहिए, क्योंकि प्रादेशिकता पुरातनपंथी और प्रतिक्रियावादी होती है।

उपनिवेशवादी वैश्विकता की आधुनिकता और प्रगतिशीलता का यह सिक्का इस कदर जमा कि उसके वर्चस्व में आये दुनिया के प्रत्येक समाज और सभ्यता को समस्त आयामों में नाकारा मान लिया गया; और नाकारा का नष्ट होना ऐतिहासिक नियति। यहाँ तक कि उपनिवेशवादी विचारधारा के शिकार समाजों के कितने ही बुद्धिजीवियों ने खुद प्रादेशिकता को धिक्कार की नजर से देखा। वैश्विकता के अभिनंदन में वे यहाँ तक चले गये कि अपनी आजादी खोने का अफसोस भी जाता रहा। उन्होंने यह माना कि सौदा महँगा नहीं रहा: आजादी खोई तो बदले में आधुनिकता और प्रगतिशीलता जैसे वैश्विक मूल्य हासिल हुए। उपनिवेशवादी वैश्विकता पूँजीवादी विचारधारा पर आधारित थी; और पूँजीवाद को दुनिया के सभी देशों के लिए क्रांतिकारी घटना स्वीकार किया गया।

हालाँकि, भारत सहित सभी उपनिवेशित देशों में औपनिवेशिक गुलामी से आजादी के पहले तक प्रादेशिकता का तिरस्कार मुकम्मल नहीं था। ऐसा होता तो उन देशों में औपनिवेशिक गुलामी के बरक्स राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन नहीं होता। सफल तो वह होता ही नहीं। भारत में भी उपनिवेशवादी वैश्विकता के बरक्स प्रादेशिकता की अनुक्रिया एकरूप और एकमुश्त नहीं थी। बहुत से लोग उपनिवेशवादी वैश्विकता को वरदान मानने के लिए तैयार नहीं थे। खुद बुद्धिजीवियों में प्रादेशिकता और वैश्विकता को लेकर दुचित्तापन बना हुआ था। साहित्यकारों से लेकर विचारकों तक यह दुचित्तापन देखने को मिलता है। देश की आम जनता अपनी प्रादेशिक सत्ता में उपनिवेशवादी वैश्विकता का सतत् प्रतिपक्ष बनी हुई थी। गाँधी ने प्रादेशिकता अर्थात् भारत की जनता की उस मजबूत ताकत के साथ जुड़ कर उपनिवेशवादी वैश्विकता अर्थात् पूँजीवादी औद्योगिक सभ्यता को निर्णायक चुनौती दी। प्रादेशिक सेना के बल पर आजादी के संघर्ष में जीत हासिल हुई। कहने की जरूरत नहीं कि गाँधी का संघर्ष केवल राजनैतिक नहीं था। उनका लक्ष्य प्रादेशिकता को उपनिवेशवादी वैश्विकता के वर्चस्व और दमन से मुकम्मल मुक्ति दिलाना था।

जो आधुनिक और प्रगतिशील दिमाग यह मानता है कि अंग्रेज युद्धोत्तर वैश्विक कारणों के चलते भारत छोड़ कर चले गये, वह उपनिवेशवादी वैश्विकता का भी कायल रहा है। वह मानता है कि वैश्विकता वैश्विक कारणों से ही कहीं आती-जाती है। प्रादेशिकता अगर वैश्विकता को परास्त कर देगी तो इतिहास का अटल नियम गलत सिद्ध हो जायेगा। लिहाजा, उस दिमाग ने आजादी और गाँधी की हत्या के बाद उनके द्वारा सुझाए उपनिवेशवादी वैश्विकता के प्रादेशिक विकल्प को तुरत-फुरत खारिज कर दिया। उसने उस दुचित्तेपन से भी जल्दी ही मुक्ति पा ली, जिसके चलते चेतना में प्रादेशिकता की एक फाँक हमेशा बनी रह जाती थी। गाँधी के हवाले से अथवा स्वतंत्र चिंतन के स्तर पर प्रादेशिकता का विचार या प्रयास करने वाले चिंतकों को 'सीज' कर देने की कड़ी बौद्धिक कार्रवाई की गयी।

नतीजा स्पष्ट और समाने है: आज भारत में प्रादेशिकता के नाम पर ज्यादातर संकीर्ण और साम्प्रदायिक दिमाग का विलाप बचा हुआ है। इस नतीजे का नतीजा भी स्पष्ट और सामने है: वैश्विकता के भगीरथ अब उसके नवीन अवतार वैश्वीकरण की गंगा को पूरे वेग से भारत भूमि पर उतार लाये हैं। ताकि प्रादेशिकता के दफन अवशेष हमेशा के लिए मुक्ति पाकर स्वर्ग जा सकें! बदले में धरती के स्वर्ग की पूरी व्यवस्था उन्होंने अपने कब्जे में कर ली है। प्रेमचंद-युग में 'व्यापार का राज्य' (संदर्भ: 'रंगभूमि') कायम करने निकली उपनिवेशवादी वैश्विकता वर्तमान दौर में नवउदारवादी वैश्विकता के रूप में 'बाजार का राज्य' कायम करने में जुटी है। अपने पथ पर उत्तरोत्तर आगे बढ़ते हुए उसने वैश्विकता-नवउदारवादी विचारधारा से इतर किसी भी इतिहास, दर्शन, विचारधारा आदि के अंत की घोषणा कर दी है।

स्वतंत्रता पूर्व के सभी साहित्यकार तीव्रता से यह अनुभव करते हैं कि वैश्विकता के वर्चस्व तले प्रादेशिकता की शक्ति और स्वतंत्रता पराभूत हो गयी है। लिहाजा, वैश्विकता की समीक्षा उनकी साहित्य-रचना के केंद्र में आ जाती है। यह समीक्षा प्रादेशिकता के आधार अथवा कसौटी पर की गयी है। इस असंगति से निपटने के लिए कि पराभूत प्रादेशिकता विजयी वैश्विकता की कसौटी कैसे बनाई जा सकती है, ज्यादातर साहित्यकारों ने प्रादेशिकता को स्वर्णिम अतीत की धूनी दे कर महान और गौरवशाली बनाया है। इस तरह से निर्मित की गयी महान और गौरवशाली प्रादेशिकता उपनिवेशवादी वैश्विकता पर विजय हासिल करती है।

प्रेमचंद के साहित्य में भी प्रादेशिकता और वैश्विकता का संघर्ष मिलता है। हालाँकि, उनकी प्रादेशिकता की धारणा अतीतोन्मुखी साहित्यकारों जैसी नहीं है। वह सीधे युगीन यथार्थ से जुड़ी है। प्रेमचंद के साहित्य में प्रादेशिकता की खूबियाँ और कमजोरियाँ दोनों मिलती है। वे प्रादेशिकता पर वैश्विकता के वर्चस्व स्थापन में खुद भारतीयों की भूमिका को भी सामने लाते हैं। खासकर सामंतों, बुद्धिजीवियों और पूँजीपति व्यवसायियों की भूमिका प्रादेशिकता-विरोधी है। प्रेमचंद की वैश्विकता की धारणा भी कई अन्य साहित्यकारों से अलग है। उनके साहित्य में वैश्विकता के दमनकारी और मनुष्य-विरोधी चरित्र की पहचान के साथ उसके वैसा होने के मूलभूत कारण की पहचान की गयी है। अन्य ज्यादातर साहित्यकारों की तरह वे अपने साहित्य में प्रादेशिक अध्यात्मिकता के बरक्स वैश्विकता के भौतिकतावादी होने का इकहरा तर्क नहीं देते। हालाँकि, रचनात्मक के अलावा प्रेमचंद के विचारात्मक लेखन से पता चलता है कि वे दार्शनिक अर्थ में भौतिकवादी नहीं है। उनकी वैश्विकता के साथ असहमति का मूल कारण उसका धर्म-रहित होना है। यानी वैश्विकता के दमनकारी और मनुष्य-विरोधी होने का मूल कारण वे उसका धर्म-रहित होना मानते हैं।

धर्म से प्रेमचंद की मुराद मनुष्यता के धर्म से है: मुनष्य का अंतर्निहित नैतिक विवेक - जीवन की विषम और जटिल परिस्थितियों में जिसकी परीक्षा होती चलती है। यानी मनुष्यता का धर्म एक जीवनपर्यंत चलने वाली सतत् प्रक्रिया है। जीवन की परिस्थितियाँ, उन परिस्थितियों को निर्मित करने वाली व्यवस्था का दबाव मनुष्य के ऊपर जीवनपर्यंत बना रहता है। ऐसे में जरूरी नहीं है कि मनुष्य हमेशा धर्म का पालन कर पाता हो। वह अपने धर्म से गिरता भी है, और फिर उठ भी सकता है। इस तरह न केवल मनुष्यता के धर्म और परिस्थितियों के बीच द्वंद्वात्मकत बनी रहती है, प्रत्येक मनुष्य

के जीवन में भी धर्म-अधर्म का द्वंद्व जारी रहता है। इस द्वंद्वात्मकत से निजात पाने के लिए संस्थानीकृत धर्म बीच के कई रास्ते निकालता है। जरूरी नहीं है कि वे सभी मनुष्यता के धर्म के विपरीत पड़ते हों। लेकिन वे मनुष्यता के धर्म का स्थान नहीं ले सकते। मनुष्यता का धर्म यदि नहीं रहेगा तो मनुष्यता ही नहीं रहेगी।

यहाँ विवेच्य उपन्यास 'रंगभूमि' (1924) के नायक सूरदास की प्रबल इच्छा जीवन में एक बार तीर्थ करने की है। उसे विश्वास है कि उसका अंधापन पूर्व-जन्म के कर्मों का फल है। रुपयों की थैली चोरी चले जाने को भी वह पिछले जन्म के किसी कर्म का दण्ड मानता है। वह अपने पुरखों की जमीन पर बनारस आने वाले यात्रियों के लिए कुँआ और धर्मशाला बनवाना चाहता है। अदालत से बरी होने के अवसर पर वह पाँच ब्राह्मणों को भोजन कराता है। मृत्युशैया पर पड़े सूरदास की एकल कामना यही है कि उसका भतीजा मिठुआ उसका अंतिम संस्कार और पिण्डदान करे, ताकि उसकी सद्गति हो सके। मरने के बाद वह बैकुंठ जाने की कामना करता है। बल्कि, गोली लगने के बाद मृत्यु से पहले उसे विश्वास है कि वह 'बैकुंठ' जाएगा।

सूरदास का महत्त्व यह सब करने या मानने के कारण नहीं है। यह सब सभी लोग करते हैं। उसका महत्त्व इसमें है कि वह जीवन की रंगभूमि में अपनी पारी खेलते हुए मनुष्यता के धर्म से नहीं डिगता। हारे चाहे जीते। उसके जीवन-दर्शन में हार-जीत एक असमाप्त द्वंद्वात्मकत प्रक्रिया है: "... हम तो खाली मैदान में खेलने के लिए बनाए गये हैं। सभी खिलाड़ी मन लगा कर खेलते हैं, सभी चाहते हैं कि हमारी जीत हो; लेकिन जीत एक ही की होती है, तो क्या इससे हारने वाले हिम्मत हार जाते हैं? वे फिर खेलते हैं; फिर हार जाते हैं, तो फिर खेलते हैं। कभी न कभी तो उनकी जीत होती ही है।"

'रंगभूमि' प्रेमचंद की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचना है। 'रंगभूमि' की कथावस्तु प्रादेशिकता और वैश्विकता के द्वंद्व से विकसित होती है। प्रादेशिकता के पाले में उपन्यास का नायक सूरदास और उसके सहयोगी हैं। वे बनारस की जड़ में बसी बस्ती पांडेपुर के निवासी हैं। वैश्विकता का पाला ज्यादा बड़ा है। शहर के हिसाब से ही नहीं, उस पाले में लोग भी बड़े हैं: उपनिवेशवादी शासक और उनके सहयोगी बुद्धिजीवी और सामंत। वे सब बनारस में रहते हैं। ऐसा नहीं है कि प्रादेशिकता और वैश्विकता की पक्षधर शक्तियों के बीच शुरू में ही लकीर खींच दी गयी है। पूरा उपन्यास पढ़ कर ऐसा लगता भी नहीं कि लेखक किसी भी पक्ष में पेशबंदी करके चला है। सारा द्वंद्व और संघर्ष रचनात्मक अनुशासन में चित्रित हुआ है। जैसा कि हर महत्त्वपूर्ण रचना में होता है, 'रंगभूमि' में भी मनुष्य और परिस्थिति (नियति भी) का जटिल संघात है। संघात के भीतर से लेखक के जीवन-दर्शन अथवा 'विजन' की सृष्टि होती है।

प्रादेशिकता के पाले का खिलाड़ी अंधा भिखारी सूरदास है और वैश्विकता के पाले का सबसे बड़ा खिलाड़ी व्यवसायी जॉन सेवक। सूरदास के पास बाप-दादों की दस बीघा जमीन है, जिसे वह अपने निर्वाह के लिए उपयोग नहीं करता। उस खाली जमीन में पूरे मोहल्ले के पशु चरते हैं। पशुओं में भी सूरदास की गउओं पर ज्यादा ममता है। सूरदास इसे धर्म का काम मानता है। दरअसल, वह जमीन पर अपना हक नहीं मानता, क्योंकि वह उसकी अपनी कमाई न होकर पुरखों की विरासत है। उस जमीन से कोई भी लाभ लेना वह धर्म के विरुद्ध मानता है। उसी तर्क से वह अपने भतीजे मिठुआ का भी जमीन पर हक

नहीं मानता। (उसके 'धर्मात्मापन' पर क्षुब्ध मिठुआ मृत्युशैया पर पड़े सूरदास का घोर तिरस्कार करता है।)

जॉन सेवक चमड़े का छोटा व्यवसायी है लेकिन उसकी महत्त्वाकांक्षा बड़ा व्यवसायी बनने की है। उसने अपेन बेटे प्रभु सेवक को इंग्लैण्ड में व्यवसाय की शिक्षा दिलवाई है। सूरदास की जमीन उसे सिगरेट का कारखाना लगाने के लिए मौके की जान पड़ती है। किसी भी तरह वह जमीन खरीदने पर तुल जाता है। सूरदास किसी कीमत पर अपनी जमीन नहीं बेचना चाहता। लेकिन लड़ाई में वह अकेला पड़ जाता है। जॉन सेवक, कुँवर भरत सिंह, राजा महेंद्र सिंह, क्लार्क और कारखाने के शेयरधारियों को अपने साथ मिला कर प्रशासन से वह जमीन अपने नाम करा लेता है। मुआवजा मात्रा एक हजार रुपये तय होता है। सूरदास मुआवजे की रकम सेवा समिति के सदस्य इंद्रदत्त को सौंप देता है।

कारखाना चालू होने पर मोहल्ले में वे सारी बुराइयाँ फैलने लगती हैं, जिनका जिक्र सूरदास ने बार-बार किया था। मजदूरों के घर बनाने के लिए जॉन सेवक प्रशासन से मिल कर पूरे मोहल्ले की जमीन लेने का आदेश भी पारित करा लेता है। सूरदास, जिसकी प्रादेशिकता संस्कार और स्थान दोनों में गहरे धँसी है, अपनी झोंपड़ी छोड़ने के लिए तैयार नहीं होता। भैरो से कहता है: ''जहाँ जन्म लिया है, वहीं मरूँगा। ... बाप-दादों की जमीन खो दी, अब इतनी निशानी रह गयी है, इसे न छोड़ूँगा इसके साथ ही आप भी मर जाऊँगा''। पुलिस जबरन लोगों के घरों में घुस कर उन्हें सामान के साथ बाहर फेंक देती है। सेवा समिति के कार्यकर्ता और अन्य काफी लोग सूरदास और मोहल्ले के उजाड़े गये लोगों के समर्थन में इकट्ठा होते हैं। पुलिस गोली चलाती है, जिसमें कई युवक मारे जाते हैं। क्लार्क की गोली सूरदास के कंधे में लगती है। बाद में अस्पताल में सूरदास की मौत हो जाती है।

प्रेमचंद के बाकी कथा-साहित्य की तरह 'रंगभूमि' में भी सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक-सांस्कृतिक-धार्मिक संरचनाओं, संस्थाओं यानी प्रादेशिकता के सम्पूर्ण परिदृश्य पर उपनिवेशवादी वैश्विकता की चोट के निशान मिलते हैं। लेकिन इस कारण से 'रंगभूमि' का महत्त्व नहीं है। उस कारण से तो कतई नहीं, जो आमतौर पर बताया जाता है कि गाँधीवादी प्रभाव की रचना होने के नाते उसमें औद्योगीकरण की बुराइयाँ दिखाते हुए उसका विरोध किया गया है। 'रंगभूमि' की महाकाव्यात्मक महत्ता इसमें है कि इस उपन्यास में प्रेमचंद ने पहली बार वैश्विकता के धर्म-रहित चरित्र पर गहरी चोट मारी है। मुनाफे को जीवन का एकमात्र ध्येय मानने वाली उपनिवेशवादी वैश्विकता के मारे लोगों की आत्मा इस कदर मर जाती है कि सूरदास जैसी सच्ची आत्मा को मार डालने के बावजूद उनका चरित्र जरा भी नहीं बदलता। वहाँ भैरो जैसे लोग ही हैं जिनकी आत्मा धूमिल होने के बाद स्वच्छ भी हो जाती है।

जॉन सेवक अस्पताल आता है। उसे वहाँ भर्ती सूरदास से नहीं मिलना था, अपनी बेटी सोफी से मिलकर ''संवेदना प्रकट करने का शिष्टाचार'' निभाना था, जिसका होने वाला पति विनय सिंह आत्महत्या कर लेता है। शहर में इतना बड़ा कांड हो जाने के बावजूद वह सारा दिन अपने कारखाने में ही उलझा रहा था। उसे वह कारखाना खोलने पर अफसोस तो होता है लेकिन उस अफसोस में मरणासन्न सूरदास, पांडेपुर के उजाड़े गये लोग और उनके समर्थन में पुलिस की गोली से मारे गये इंद्रदत्त जैसे युवकों की कोई चिंता नहीं है। उसे चिंता है अपने मुनाफे की: ''उन्हें बार-बार यह कारखाना खोलने पर अफसोस

होता था, जो असाध्य रोग की भाँति उनके गले पड़ गया था। इसके कारण पारिवारिक शांति में विघ्न पड़ा, सारा कुनबा तीन-तेरह हो गया, शहर में बदनामी हुई, सारा सम्मान मिट्टी में मिल गया, घर के हजारों रुपये खर्च हो गये और अभी तक नफे की कोई आशा नहीं।''

वह सोफी के आग्रह पर हिचकते हुए सूरदास से भी उसकी तबीयत का हाल पूछता है। सूरदास प्रसन्नतापूर्वक उसका स्वागत करता है और उसके आने पर अपने को धन्य और दुनिया का बड़ा आदमी मानता है। शायद उसकी विनम्रता और सहृदयता से प्रभावित जॉन सेवक उसका अहित करने के लिए खेद प्रकट करता है। कुटिलता और छल-कपट के लिए आत्म-भर्त्सना भी। वह उसके तत्त्वज्ञान का भी कायल होता है, और उसके समक्ष अपने को बालक कहता है। सूरदास न केवल उससे कोई द्वेष नहीं दिखाता, मिठुआ की तरफ से उसे सावधान भी करता है, जो कुछ देर पहले जमीन का मुआवजा न मिलने की स्थिति में कारखाने में आग लगा देने की धमकी देकर गया था। जॉन सेवक इसके लिए उसका कृतज्ञ होता है और एक बार फिर अपनी सिद्धांत-निष्ठता का हवाला देकर उसकी प्रार्थना ठुकरा देता है। वह कहता है: ''किसी नीयत के बुरे आदमी को आश्रय देना मेरे नियम के विरुद्ध है।'' जॉन सेवक को सूरदास और पांडेपुर के निवासियों के खिलाफ इतना कुछ कर गुजरने के बावजूद अपनी नीयत का खोट नजर नहीं आता। वह वैसा ही है - स्वार्थ के बाहर बिल्कुल अंधा।

उपन्यास के अंत में उसकी स्थिति इस प्रकार है: 'वह निराशामय धैर्य के साथ प्रातःकाल से संध्या तक अपने व्यावसायिक धंधों में रत रहते हैं। उन्हें अब संसार में कोई अभिलाषा नहीं है, कोई इच्छा नहीं है, धन से उन्हें निस्वार्थ प्रेम है, कुछ वही, अनुराग, जो भक्तों को अपने उपास्य से होता है। धन उनके लिए किसी लक्ष्य का साधन नहीं है, स्वयं लक्ष्य है। ... उनकी धनकामना विद्या-व्यसन की भाँति तृप्त नहीं होती।'' राजा महेंद्र कुमार सिंह भी सूरदास से मिलकर अपनी भूलों के लिए क्षमा माँगता है। वह कहता है: ''अगर मेरे वश की बात होती, तो मैं आज अपने जीवन को तुम्हारे जीवन से बदल लेता।'' वही राजा मरणोपरांत सूरदास की स्मृति में स्थापित मूर्ति को तोड़ने के प्रयास में उसके नीचे दब कर मर जाता है। क्लार्क की गोली से तो सूरदास मारा ही जाता है। सूरदास की मृत्यु के बाद वह राजा से कहता है: ''मुझे इसका अफसोस है कि मेरे हाथों से ऐसे अच्छे आदमी की हत्या हुई।'' राजा कहता है: ''सौभाग्य कहिये, दुर्भाग्य क्यों?'' वह जवाब देता है: ''नहीं राजा साहब, दुर्भाग्य ही है। ... यह राज्य करने का प्रायश्चित है कि इस देश में हम ऐसे आदमियों का वध करते हैं, जिन्हें इंग्लैण्ड में हम देव-तुल्य समझते हैं।'' सोफी जब कहती है: ''काश, ये शब्द आपके अंतःकरण से निकले होते!'' तो वह तुरंत बौखला कर कहता: ''यह तुम्हारे उस अन्याय का फल है जो तुमने मेरे साथ किया है।''

गाँधी के 'चेंज ऑफ हार्ट' में घोषित विश्वास करने वाले प्रेमचंद की रचना 'रंगभूमि' में उपनिवेशवादी वैश्विकता के कर्ताओं का चरित्र नहीं बदलता। वे कभी-कभार सूरदास से प्रभावित होते हैं। लेकिन उनका 'धर्म' सूरदास के धर्म से अलग है। जॉन सेवक अपने कारिंदे ताहिर अली से कहता है: ''धर्म और व्यापार को एक तराजू पर तौलना मूर्खता है। धर्म धर्म है, व्यापार व्यापार, परस्पर कोई संबंध नहीं। संसार में जीवित रहने के लिए किसी व्यापार की जरूरत है, धर्म की नहीं।'' धर्म को व्यापार और धनाधीशों का शृंगार बताते हुए वह कहता है: ''खाली पेट खुदा का नाम लेना पाप है।'' धर्म को मनुष्यता से जोड़कर देखने वाली सोफी और वैसी ही उन्मुखता वाले प्रभु सेवक को वह नासमझ मानता है। प्रभु सेवक जब

आवेश में कहता है कि उसने एक अँधे असहाय भिखारी की जमीन लेकर अधर्म किया है तो जॉन सेवक स्पष्ट करता है कि चर्च जाने जैसा रूढ़ धार्मिक व्यवहार भी वह पारिवारिक सौहार्द और व्यापार के लाभ के लिए करता है। अन्यथा धर्म से उसका कोई लेना-देना नहीं है। सूरदास से उसका कहना है: ''धर्म-युद्ध के दिन अब नहीं रहे।''

उसकी यह मान्यता उपनिवेशवादी वैश्विकता की संगति में है। यानी उपनिवेशवादी वैश्विकता में ढला चरित्र मनुष्यता के धर्म से प्रसूत मानवीय विवेक अथवा नैतिकता से रहित होता है। ऐसे में उसकी बदलाव की संभावना भी समाप्त हो जाती है। उसके लिए सूरदास को मारना और पांडेपुर की बस्ती और लोगों को उजाड़ना अनिवार्य हो जाता है। यानी ऐसी वैश्विकता प्रादेशिकता का शिकार करेगी ही करेगी। लिहाजा, उसे प्रादेशिकता से 'रिप्लेस' करना अनिवार्य है। वही वास्तविक विकल्प है। ऐसा विकल्प जिसमें प्रादेशिकता और वैश्विकता परस्पर विरोधी अथवा विभिन्न सत्ताएँ नहीं रह जाएँगी। मानव-मूल्य और नैतिकता दोनों की समान आधारभित्ति होगी। 'रंगभूमि' में वैश्विकता और प्रादेशिकता के संघर्ष का यही निचोड़ निकलता है।

'रंगभूमि' में प्रेमचंद प्रादेशिकता और वैश्विकता के पूरी तरह गड़बड़ा चुके संबंध को सही कीली पर बिठाने का गम्भीर साभ्यतिक उद्यम करते हैं। लेकिन उपन्यास में प्रादेशिकता की पराजय होती है। वैश्विकतावादियों के यह कहने में कोई राहत नहीं है कि सूरदास हार कर भी जीत गया; हमेशा के लिए अमर हो गया; वह देवात्मा था, देवलोक को चला गया। राहत इसमें है कि आगे के संघर्ष की आशा और विजय की संभावना का सूत्र टूटता नहीं है। लेख के शुरू में उद्धृत मरणासन्न सूरदास की अस्फुट वाणी में आगे के संघर्ष और जीत का विश्वास दर्ज हुआ है। मृत्यु के क्षण भर पहले वह कहता है: ''मेरे सिर पर हाथ रखकर आसीस दो; माता, अब मेरी जीत होगी।'' इस अडिग विश्वास के कारण है कि सूरदास धर्म की लड़ाई ही नहीं लड़ता, लड़ाई के धर्म में भी उसकी वैसी ही आस्था है।

भैरो से वह कहता है: ''हमारी बड़ी भूल यही है कि खेल को खेल की तरह नहीं खेलते। खेल में धाँधली करके कोई जीत ही जाये, तो क्या हाथ आयेगा? खेलना तो इस तरह चाहिए कि निगाह जीत पर रहे; पर हार में घबराए नहीं, ईमान को न छोड़े। जीत पर इतना न इतराए कि अब कभी हार होगी ही नहीं। यह हार-जीत तो जिंदगानी के साथ है।'' साध्य और साधन की पवित्रता और मानव-प्रयास की निरंतरता में उसकी इस अटूट आस्था को चाहे तो गाँधी से जोड़ सकते हैं। 'रंगभूमि' के प्रकाशन के सन् 2024 में सौ साल पूरे हो जाएँगे। प्रकाशन को तीन-चैथाई सदी से ज्यादा समय गुजर गया है। वैश्विकता के नवसाम्राज्यवादी संस्करण के खिलाफ भारत सहित पूरी दुनिया के स्तर पर प्रादेशिकता(ओं) का संघर्ष चल रहा है। 'रंगभूमि' की प्रासंगिकता और सार्थकता आज भी बनी हुई है।